आनन्द–मीमांसा

डॉ. प्रकाशवती, पूर्व–सदस्य, आरपीएससी एवं यूपीएससी, प्रवचनकर्त्री, चिन्मय मिशन, जयपुर

यह विषय ही क्यों चुना इस परिचर्चा हेतु, इसका कारण एक सहज स्वाभाविक जिज्ञासा ही है। प्राणी मात्र में जो एक सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखाई देती है कि वह सदा सुख ही चाहता है, छोटे से जीवाणु से लेकर सभी मनुष्य, यहाँ तक कि देव गन्धर्व भी सभी सुख की सहज चाह रखते हैं। यह क्यों है? सामान्यतया सुख तथा आनन्द पर्यायवाची शब्द ही समझे जाते हैं जो समानार्थक हैं। यह जिज्ञासा और उसका सहज एवं शास्त्रीय समाधान ही इस विवेचन की मुख्य प्रेरणा रहे हैं। इस विषय को निम्नांकित बिन्दुओं में संक्षिप्त किया जा सकता है :–

१. सुख तथा आनन्द शब्द पर्यायवाची हैं।

२. सुख जीव के शुभ कर्मों का प्रतिफल है तथा दु:ख उसके अशुभ कर्मों का।

३. विभिन्न प्रकार के जीवों के सुखों में गुणात्मक भेद है, केवल मात्रात्मक ही नहीं। मच्छर, चूहे, बिल्ली, गाय आदि सभी के सुखों में गुणात्मक भेद है और यह स्तर भेद उनके द्वारा किये जाने वाले कर्मों के भेद के समानुपातिक ही है। यहाँ तक कि मनुष्य–मनुष्य के सुखों में भी गुणात्मक भेद होता है, जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में सात्त्विक सुख, राजसिक सुख तथा तामसिक सुख कहा गया है।

४. सुखों का यह स्तर भेद सृष्टि में शाश्वत है। यह कभी समाप्त नहीं होने वाला है।

५. परम सुख की प्राप्ति हेतु ज्ञान ही समाधान है क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही सुखरूप है।

६. इस परम या पारमार्थिक सुख में स्तर भेद नहीं है।

७. अन्य सुख आनन्दमय कोश पर निर्भर करते हैं जबकि आनन्द या पारमार्थिक सुख कोशातीत है, क्योंकि यह आत्मसुख है इसलिये यह परम सुख है, अनन्त है, शाश्वत है, व्यक्ति वस्तु या परिस्थिति सापेक्ष सुख नहीं है यह।

हम सुख ही क्यों चाहते हैं? क्या कभी कोई व्यक्ति या प्राणी कोई कर्म करते समय दु:ख प्राप्ति की इच्छा से कर्म करता है? क्यों नहीं होता ऐसा? सुख ही क्यों चाहते हैं? क्योंकि सुख या आनन्द हमारा स्वरूप है। क्या सूर्य कभी ठंडा हो सकता है, या ठंडा होने की चाह रख सकता है? नहीं– फिर वह सूर्य ही नहीं रहेगा। स्वप्रकाशत्व उसका स्वरूप धर्म है। इसी भांति (आनन्द हमारा स्वरूप है और जो सुख या आनन्द स्वरूप है वह जड़ नहीं हो सकता– वह चेतन ही होगा और निश्चित ही वह सत् स्वरूप भी होगा– असत् नहीं हो सकता।) अत: सत्+चित्+आनन्द हमारा स्वरूप है– वह कहीं बाहर से प्राप्त होने वाला सुख नहीं है।

सुख के प्रकारभेद हो सकते हैं और हैं भी जिन्हें हम –

(१) लौकिक सुख

(२) अलौकिक या पारलौकिक सुख

(३) पारमार्थिक सुखों के रूप में वर्गीकृत करते हैं।

(१) लौकिक सुख– लौकिक सुख तथा अलौकिक सुख इन्द्रिय–विषयसंयोगजन्य सुख होते हैं। लौकिक सुखों के लिये प्रत्येक इन्द्रिय का जो निर्धारित विषय है उसका उस इन्द्रिय से संयोग होना आवश्यक है। भोजन का आनन्द, स्वाद का आनन्द 'रसना' के साथ भोज्य पदार्थ का संयोग होगा तभी मिल सकता है। नेत्रों से देखने मात्र से भोजन का आनन्द नहीं लिया जा सकता। यही बात शेष चारों ज्ञानेन्द्रियों के साथ भी सच है। दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु इस सन्दर्भ में यह है कि इस सुख की मात्रा उस से पूर्व में होने वाले दु:ख की आनुपातिक ही होगी। भोजन के सुख की अनुभूति तभी और उतनी ही न्यूनाधिक होगी जितनी उससे पूर्व भूख की तड़फन होगी। इसीलिये कहा भी है कि स्वाद भोजन में नहीं, भूख में होता है, भूख में तो किंवाड़ भी पापड़ लगते हैं। भूख का कष्ट सहे बिना कितना ही सुस्वादु भोजन हमारे सामने आ जाये– हमें वह रुचेगा ही नहीं। यही स्थिति सभी ऐन्द्रिक सुखों की है, या कहें लौकिक सुखों की है। तीसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है कि जिसके पास रोटी खाने को पैसे नहीं हैं उसे यदि सौ रुपये मिल जायें तो वह धन्यता महसूस करेगा तथा सौ रुपये हो जाने पर, कुछ समय बाद वे १०० रुपये नगण्य बन जायेंगे तथा एक हजार रुपये की चाह होने लगेगी। अर्थात् लौकिक सुखों में असंतोष की भावना निरन्तर और–और की चाह बनाये रखेगी।

''और–और की ध्वनि है केवल
तृप्ति प्रलय पर्यन्त नहीं।'' (आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री)

इसी आशय का भर्तृहरि द्वारा रचित श्लोक है–

नि:स्वो वष्टि शतं, शती दशशतं, लक्षं सहस्राधिपो,
लक्षेश: क्षितिपालतां, क्षितिपति: चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेश: सुरराजतां, सुरपति: ब्रह्मास्पदं वाञ्छति।
ब्रह्मा शैवपदे, शिवो हरिपदे, ह्याशावधि को गत:।।

लालसा की कोई सीमा है क्या? अर्थ का अभाव और प्रभाव दोनों मनुष्यों के लिये घातक है, ''बुभुक्षित: किं न करोति पापम्?''

चौथा महत्त्वपूर्ण बिन्दु इन लौकिक सुखों के विषय में है कि दु:ख इनके साथ सदा लगा ही रहेगा। धनार्जन में दु:ख, उसके रक्षण में दु:ख, उसे व्यय करने में दु:ख और फिर भोग में दु:ख–

भोगे रोगभयं, कुले च्युतिभयं, वित्ते नृपालाद् भयं,
मौने दैन्यभयं, बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं, गुणे खलभयं, काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि, नृणां वैराग्यमेवाभयम्।।

इन सुखों के प्रत्येक सोपान पर–अर्जन से लेकर भोग पर्यन्त दु:ख का भय निरन्तर बना रहता है किसी न किसी रूप में। यह भ्रान्ति आगे से आगे बढ़ती जाती है कि अब इसके बाद सुख मिलेगा। हमें चाह तो सुख की रहती है– क्योंकि वह हमारा स्वरूप है– परन्तु हम करते वह हैं जिससे दु:ख मिलता रहता है। सन्तान नहीं है तो दु:ख, हो गई सन्तान, तो उसके स्वास्थ्य की चिन्ता, फिर उसकी शिक्षा की चिन्ता, नहीं पढ़े तो चिन्ता, पढ़े तो आगे से आगे उसके उच्च संस्थानों में प्रवेश की चिन्ता, फिर नौकरी की चिन्ता, फिर विवाह की चिन्ता, फिर उसके सन्तान हो– और इस बीच यदि वह कुपुत्र निकल जाये तो दु:ख ही दु:ख–सुख की चाह में दु:ख पाते रहते हैं और सुख और आगे–आगे निकलता जाता है, हमें चिढ़ाता हुआ सा। कामनाएं महापेटू हैं ''न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य:'' कितना भी धन क्यों न हो जाये मनुष्य को तृप्ति नहीं होगी।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशव: स्त्रिय:
नालमेकस्य तृप्त्यर्थं, इति मत्वा शमं व्रजेत्।

इस पृथ्वी में जितना भी चावल है, जौ है – अर्थात् अनाज है, सोना है, धन है, पशु है, पुरुष हैं स्त्रियों के भोग के लिये तथा स्त्रियाँ हैं पुरुष के भोग के लिये। यह सब एक व्यक्ति को मिल जायें, सारा धन, स्वर्ण, राज्य तो भी एक व्यक्ति की तृप्ति के लिये पर्याप्त नहीं है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

भोग भोगने से, कामों को भोगने से कभी किसी की तृप्ति नहीं होती। अग्नि में घी डालें तो क्या आग तृप्त होगी– वह तो और–और भड़कती जायेगी, तेज होती जायेगी। जो लोग इच्छाओं को मित्र मानते हैं वे ही गलत काम करते हैं– कामनाएं शत्रु हैं ''विद्धयेनमिह वैरिणम्''– अपने को सदा अभावग्रस्त ही मानते रहेंगे, ऊपर–ऊपर देखकर अपने को दरिद्र तथा टटपूंजिया ही मानते रहें– यह भाव बैरी है हमारा जो मित्र बनकर आये वह शत्रु और खतरनाक होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कह रहे हैं –

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। (३.३८)

सात्त्विक पुरुष के मन में जब कामनाएं आती हैं तो वह मानो धुएं से ढकी आग जैसी होती हैं। धुआं भी दीखता है और आग भी दीखती रहती है। सात्त्विक वृत्ति वाले व्यक्ति के मन में कामना रूपी अग्नि जागती है तो उसे उस अग्नि का– अर्थात् अपने कर्त्तव्य का भी ज्ञान रहता है। धुएं से ढकी अग्नि जैसे झलकती रहती है बीच–बीच में से वैसे ही कामना रूपी धुआं सत्त्वगुणी व्यक्ति के कर्त्तव्य बोध को वैसे ही ढकता है– उसे बीच–बीच में कर्त्तव्य बोध बना रहता है। दूसरी ओर रजोगुणी व्यक्ति को काम कैसे ढकता है जैसे दर्पण को धूल ढकती है– उस दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता– अंगुली से जरा सी धूल हटा दो उस स्थान पर प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। रजोगुणी व्यक्ति को भी अपने कर्तव्य का बोध यूं ही यदा–कदा होता रहता है तथा तमोगुणी को काम वैसे ढके रखता है जैसे गर्भ को उसकी झिल्ली ढके रखती है, गर्भ बिल्कुल भी दिखाई नहीं देता। क्रोध इससे उल्टा है–

आवृतं ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।(३.३९)

सात्त्विक सुख, राजसिक सुख, तामस सुख, के अन्तर्गत इन लौकिक सुखों का जितना विश्लेषण किया जावे कम है परन्तु समय–स्थान की सीमाएँ हैं। सुखों का यह भेद सृष्टि में शाश्वत है, यह कभी समाप्त नहीं होने वाला है। कारण यही है कि सृष्टि त्रिगुणात्मिका है अतः यह स्तरभेद भी सृष्टि के

साथ चलता रहेगा। साथ ही जिस तरह सृष्टि वास्तव में भ्रम है उसी प्रकार सुखों की यह अनुभूति भी भ्रमात्मक ही है। जो वहाँ है ही नहीं, उसे यदि हम वहां ढूंढने की चेष्टा करते हैं तो निश्चय ही निराशा हाथ लगेगी और यही कारण है कि सुख की सतत तलाश में हम और-और दु:ख पालते जाते हैं। जो क्षणिक रूप से सुख का अहसास होता है वह भी अपने साथ दु:खों की सुदीर्घ परम्परा लेकर आता है।

(२) अलौकिक या पारलौकिक सुख– इस सुख की प्राप्ति की प्रक्रिया तो दु:साध्य है ही- क्योंकि इसे पाने के लिये हमें कितने अनुष्ठान करने होते हैं- उन अनुष्ठानों के लिये कितनी सामग्री एकत्रित करनी होती है, तदर्थ धनराशि भी उतनी चाहिये होती है। फिर अनुष्ठान से पूर्व और पश्चात् कितने ही नियमों की अनुपालना करनी होती है। रात्रिजागरण, पूर्ण ब्रह्मचर्य, पहले भी बाद में भी, इन्द्रिय संयम, व्रत-उपवास आदि के रूप में तपश्चर्या का विधान होता है फिर इस सुख की प्राप्ति के लिये इस स्थूल देह की आसक्ति भी छोड़नी ही होती है - क्योंकि ये सुख इस देह के छूटने के उपरान्त ही प्राप्त होते हैं। फिर इन पारलौकिक सुखों में भी स्तरभेद (न्यूनाधिक का) रहेगा ही। कोई इन्द्र है तो उसके द्वारपाल भी होंगे ही, ऐरावत को चलाने वाला भी होगा– सेवक-सेविकाएं भी होंगी। अत: वहाँ भी और-और उच्च पद की आकांक्षा बनी ही रहेगी जो निश्चित ही दु:ख की जनक है, हाँ सुख की भ्रान्ति बनी रहती है। सुख अपनी परछाई की भांति आगे और आगे खिसकता ही जाता है- मृगमरीचिका के जल की भांति, जिसके पीछे प्यास से छटपटाता मृग भाग-भाग कर और-और बेहाल होता जाता है। फिर ब्रह्मा तक की ये सारी उपलब्धियाँ नाशवान् भी होती ही हैं - ''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति''। साथ ही सुख का भी एक मद होता है जो सही गलत के विवेक को नष्ट कर देता है। 'नहुष' की कथा सर्वविदित ही है। इन्द्रासन मिल गया तो अब इन्द्राणी भी मिलनी ही चाहिये- जैसा कि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है- ''कुछ तो विशिष्टता हो शची के विवाह में''- सप्त ऋषियों से पालकी उठवाई-जिन्होंने एक सीमा के बाद सहन न हो पाने के कारण श्राप दिया- पुन: मृत्यु लोक में जाओ-अत: पारलौकिक सुखों में भी यह उठना और गिरना, सुख-दु:ख की आँख मिचौनी चलती ही रहती है। हमें लग सकता है कि अरे एक बार ब्रह्मा जी का पद मिल जाये, फिर तो सुख ही सुख है– क्योंकि ब्रह्माजी का एक दिन चार खरब, बत्तीस अरब मानव वर्ष के तुल्य है। फिर १००० महायुग का एक कल्प होता है। हमारी बुद्धि की सीमा के पार की काल गणना है यह- इतने दिन सुख भोग! और क्या चाहिये! इतना सुदीर्घकालीन सुख मिल जाये, फिर और आगे की तो कल्पना ही नहीं हो पायेगी। यह कुछ ऐसा ही है कि एक अमीबा की आयु और मनुष्य की आयु का अन्तर हो। अत: अलौकिक सुख भी गुणात्मक दृष्टि से भिन्न नहीं है। और यह सोच कि अलौकिक सुख में दु:ख का मिश्रण नहीं है, हमने देखा कि यह भी भ्रान्ति ही है। वहाँ भी दु:ख का मिश्रण रहेगा ही-क्योंकि वहाँ भी सुखों में स्तरभेद होगा तथा उसके कारण ईर्ष्या-द्वेष, हर्ष-अहर्ष आदि भी

रहेंगे ही– जो दु:ख के कारण होंगे।

जहाँ आनन्द नहीं है हम उसे वहाँ ढूंढते हैं, एक छोटे से बन्द कमरे में यदि वट वृक्ष को ढूंढें तो कैसे मिलेगा, निराशा ही हाथ लगेगी। उसी भांति विषयों में आनन्द या सुख ढूंढना इतना ही मूर्खतापूर्ण है। जहाँ वह हो ही नहीं सकता–वहाँ कैसे मिलेगा?

मान लीजिये आइसक्रीम खाकर आनन्द आ रहा है तो चार–पांच, दस आइसक्रीम खाते रहने पर भी आनन्द आना चाहिये। जैसे मिठास चीनी का धर्म है–तो ५० बार चखें वह मीठी ही लगेगी। परन्तु आनन्द आइसक्रीम का धर्म नहीं है– वहाँ उसकी भ्रान्ति है– यदि आनन्द आइसक्रीम का धर्म होता तो ५० आइसक्रीम खाने पर भी आनन्द मिलना चाहिये। जो कोशगत आनन्द है वह हमारे पास उस वस्तु के अभाव के सापेक्ष है–जितनी भूख है–उतना ही आनन्द है। उस वस्तु में आनन्द नहीं है। भूख के दु:ख की निवृत्ति को हमने आनन्द या सुख की संज्ञा दे दी है।

(३) पारमार्थिक आनन्द

१. पारमार्थिक सुख को आत्मसुख कहा है– वह इन्द्रिय विषय संयोगजन्य सुख नहीं है, यह आत्मा का अपना स्वरूपगत सुख है जो कोशातीत है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, इसीलिये प्राणिमात्र में सुख की एक सहज चाहना, सुख प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयासरत रहना–एक स्वाभाविक स्थिति है। नवजात शिशु को भी यह सिखाना नहीं पड़ता कि तुम सुख की इच्छा करो। वह भी गीला होते ही रोने लगता है, भूख लगते ही छटपटाने लगता है अर्थात् भूख के तथा गीलेपन के दु:ख से मुक्ति की जन्मजात प्रवृत्ति प्राणिमात्र में होती है–क्योंकि दु:ख उसका स्वरूप नहीं है। आनन्द की यह चाह उस स्वरूप का ही reflection है जो–आनन्द स्वरूप है, प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप की ओर लौट जाना चाहती है। जैसे जल का स्वभाव शीतलता है तो अग्नि पर रख कर उसे गर्म किया जा सकता है लेकिन नीचे उतारते ही वह पुन: शीतल हो जायेगा–अपने स्वरूप में लौट आयेगा, इसी प्रकार आनन्द की हमारी चाह भी शाश्वत है । कोशगत आनन्द उस परमानन्द का ही आभास मात्र है।

इसी संदर्भ में हम अपने वैदिक साहित्य का थोड़ा अनुशीलन करें तो तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के आठवें अनुवाक में कहा है "**भीषास्माद्वात: पवेत। भीषोदेति सूर्य:। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पंचम इति। सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधु युवाध्यायक, आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्द:। ते ये शतं मानुषा आनन्दा:।। १।।**" अर्थात् इसके भय से वायु चलता है, इसी के भय से सूर्य उदय होता है, इसी के भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवां मृत्यु दौड़ता है। अब यह (इस ब्रह्म

के) आनन्द की मीमांसा है- साधु स्वभाव वाला नवयुवक, वेद पढ़ा हुआ, अत्यन्त आशावान् (कभी निराश न होने वाला) तथा अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ हो एवं उसी की यह धन-धान्य से पूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी भी हो- उसका जो आनन्द है- वह एक मानुष आनन्द है।

२. आगे कहा है ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं वही मनुष्य-गन्धर्वों का एक आनन्द है तथा वह अकाम हत (जो कामना से पीड़ित नहीं है) उस श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

३. फिर मनुष्य गन्धर्वों के जो सौ आनन्द हैं वही देवगन्धर्वों का एक आनन्द है और वह अकाम हत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

४. फिर देव गन्धर्वों के जो सौ आनन्द हैं वही नित्य लोक में रहने वाले पितृगण का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

५. चिरलोकवासी पितृगण के जो सौ आनन्द हैं वही आजानज देवताओं का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

६. आजानज देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही कर्म देव देवताओं का जो कि अग्निहोत्र आदि कर्म करके देवत्व को प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

७. कर्म देव-देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही देवताओं का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

८. देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही इन्द्र का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

९. इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं वही बृहस्पति का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

१०. बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं वही प्रजापति का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

११. प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्मा का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है।

ब्रह्माण्ड में सभी कुछ नियम से चल रहा है, यह तभी सम्भव है जब उसका कोई नियन्ता हो, शासक हो और वह शासक ही ब्रह्म है जो स्वयं आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म के इस आनन्द की यह मीमांसा है-(विचारणीय) है इस आनन्द की क्या बात विचारणीय है? क्या यह आनन्द लौकिक सुख की भांति विषय और विषयी (विषय को ग्रहण करने वाले) के संबंध से होने वाला है अथवा स्वाभाविक है? यह चिन्तन ही आनन्द की मीमांसा है।

इस ब्रह्मानन्द के द्वारा ही जिसकी बुद्धि विषयों से हटी हुई है, उस ब्रह्मवेत्ता को अनुभव होने वाले आनन्द का ज्ञान हो सकता है। परन्तु कैसे ?

लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्द या परमानन्द का ही अंश है (शांकर भाष्य) कैसे ? तो कहा है कि अविद्या का उत्कर्ष होने पर कर्मवश विषयादि साधनों के संबंध से ब्रह्मा आदि जीवों द्वारा अपने-अपने विज्ञानानुसार भावना किये जाने के कारण, वही ब्रह्मानन्द लोक में अस्थिर और लौकिक आनन्द या सुख हो जाता है।

यहाँ श्रुति यह समझा रही है कि जो श्रोत्रिय विद्वान् कामनाओं से आहत नहीं है, उसे जो ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है- उसी ब्रह्मानन्द की अनुभूति का विषय-विषयी विभाग जो कि अविद्या जनित है- जैसे-जैसे क्रमश: निवृत्त होता जाता है- वैसे-वैसे यह आनन्द भी १०० गुना बढ़ता जाता है।

१००×१००×१००×१००×१००×१००×१००×१००×१००×१०० = १०००००००००००००००००००

जिसे संख्या में नहीं बांधा जा सकता वह अद्वैत आनन्द है, जो स्वाभाविक और परिपूर्ण है। न्यूनतम इकाई है साधु, युवा तथा अध्यायक व्यक्ति वेद पढ़ा हुआ हो, आशिष्ठ-अत्यन्त आशावान्, द्रढ़िष्ठ-अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ तथा धन अर्थात् उपयोग के साधन से भी सम्पन्न सम्पूर्ण पृथ्वी का राजा हो, उसको मिलने वाला आनन्द मनुष्यों के पकृष्ट आनन्द की एक इकाई है। **मनुष्य कर्म तथा उपासना के माध्यम से गन्धर्वत्व को प्राप्त होते हैं।** इन्हें शीतोष्णादि द्वन्द्वों का थोड़ा प्रतिघात होता है तथा वे द्वन्द्वों का सामना करने वाले सामर्थ्य और साधन से सम्पन्न होते हैं। अत: इन द्वन्द्वों से प्रतिहत न होने के कारण मनुष्य गन्धर्व को चित्तप्रसाद प्राप्त होता है और उस प्रसाद विशेष से उसके सुख विशेष की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व भूमिकाओं की अपेक्षा आगे-आगे की भूमि में प्रसाद की विशेषता होने से सौ-सौ गुने आनन्द का उत्कर्ष होना सम्भव ही है।

साधु युवा तथा अध्यायक- ये दो विशेषण श्रोत्रियत्व तथा निष्यापत्व दिखाने के लिये हैं। लौकिक सुख में विषय के उत्कर्ष और अपकर्ष से सुख का भी उत्कर्ष और अपकर्ष होता है। किन्तु कामनारहित पुरुष के लिये सुख का उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं हुआ करता है-अकामहतत्व इसी विशेषता को दिखाने के लिये प्रयुक्त हुआ है। और वस्तुत: अकामहतत्व को परमानन्द की प्राप्ति का साधन बतलाने के लिये अकामहत विशेषण लिया है।

देवगन्धर्व – यह पितृगण का विशेषण है।

आजान – देवलोक का नाम है, वहाँ जो उत्पन्न हुए हैं वे देवगण 'आजानज' कहलाते हैं जो कि स्मार्त्त कर्म विशेष के कारण देवस्थान में उत्पन्न हुए हैं।

कर्मदेव- जो केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से देव भाव को प्राप्त हुए हैं वे कर्मदेव कहलाते हैं।

देव –जो तैंतीस देवगण यज्ञ में हविर्भाग लेने वाले हैं वे ही यहाँ देव शब्द से कहे गये हैं। उनका स्वामी इन्द्र है और इन्द्र का गुरु बृहस्पति।

प्रजापति– का अर्थ विराट है तथा त्रैलोक्य शरीरधारी ब्रह्मा हैं जो समष्टि–व्यष्टि रूप समस्त संसार मण्डल में व्याप्त हैं।

ब्रह्मा– जहाँ ये आनन्द भेद एकता को प्राप्त होते हैं तथा जहाँ उससे होने वाले धर्म एवं ज्ञान तथा तद्विषयक अकामहतत्व सबसे बढ़े हुए हैं वह हिरण्यगर्भ ही ब्रह्मा है।

उसका यह आनन्द श्रोत्रिय, निष्पाप और अकामहत पुरुष द्वारा सर्वत्र प्रत्यक्ष उपलब्ध किया जाता है। अत: निष्पापत्व, अकामहतत्व और श्रोत्रियत्व–ये तीन उसके साधन हैं जिनमें श्रोत्रियत्व और निष्पापत्व तो नियत धर्म हैं अर्थात् कम ज्यादा नहीं होते हैं, किन्तु अकामहतत्व का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है, इसलिये यह प्रकृष्ट साधन है।

ब्रह्मा का आनन्द इस परमानन्द की मात्रा की एक इकाई मात्र है। इस आनन्द के लेश से ही अन्य प्राणी जीवित रहते हैं। (बृ.उप.४.३.३२) अद्वैत रूप होने से यह स्वाभाविक परमानन्द है, इसमें आनन्द और आनन्दी का अभेद है।

आनन्द के तुलनात्मक माप की यह पूरी सूची यही दिखाती है कि हर बार यह आनन्द १०० गुना और बढ़ जाता है। किन्तु इनमें से किसी के भी आनन्द की मात्रा उस आत्मनिष्ठ संत के आनन्द से अधिक नहीं है जिसने श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणों में बैठकर उपनिषदों का सही अर्थों में अध्ययन कर उसे आत्मसात् किया है तथा शास्त्रों में वर्णित सत्य को अपने जीवन में उतारा है और इसीलिये वह 'अकामहत्' है अर्थात् इस शरीर, मन तथा बुद्धि के नाशवान् विषयों की कामना नहीं रखता है। ये कामनाएं उसे आहत (चोट) नहीं करती हैं।

यह बात हम संसारी व्यक्तियों को आसानी से समझ में नहीं आती है और जिसे हम नहीं समझ पाते उसका विरोध करने की प्रवृत्ति रहती है। यह अध्याय ब्रह्मानन्द वल्ली–इसी कथन से प्रारम्भ हुआ है '**ब्रह्मविद् आप्नोति परम्**' और यह परम ही परमानन्द है, जिसे सत्यम्, ज्ञानम् तथा अनन्तम् द्वारा इंगित किया गया है।

इसी अध्याय में कहा है कि जगत की रचना का कारण हममें निहित आत्म तत्त्व की सृष्टि की इच्छा है– ''एकोऽहं बहुस्याम'' और यह इच्छा ही मन में विकल्प खड़े करती है, अशांत करती है उसे और फलस्वरूप दु:ख प्राप्त होता है। जितनी मात्रा में कारण हटाया जाता है उतनी ही मात्रा में उसका कार्य भी हटेगा और पूरी तरह अकामहत् को परमानन्द स्वरूप का साक्षात् होगा।

अत: पूर्णता की स्थिति पूरी तरह कामना राहित्य की अवस्था है, जहाँ व्यक्ति कामनाओं का शिकार नहीं होता है, बल्कि अपना स्वामी होता है, इच्छाओं का भी नियंता होता है। इच्छाएं स्वयं में

हमें नहीं बांध सकती, अपना गुलाम नहीं बना सकती। हम जब उनके चंगुल में स्वयं को छोड़ देते हैं तभी वे हमें अपना गुलाम बना पाती हैं। हमारी अपनी अन्त:करण स्थित कामनाओं से स्वयं को मुक्त करना ही वह अनुशासन है जो आत्मानुभूति के रूप में परिपक्व हो परिणत होता है तथा जितनी-जितनी कामनाएं हम छोड़ते जाते हैं उतना-उतना हमारा आनन्द बढ़ता जाता है और अन्तत: वह ब्रह्म के परम आनन्द के साथ एकाकार कर लेता है स्वयं को। जब उपनिषद कहता है ''उस क्षोत्रिय मरणदधर्मा मनुष्य का आनन्द ब्रह्मा के आनन्द के तुल्य है जिस मनुष्य ने अपने दिव्यस्वरूप को जान लिया है और फलस्वरूप इस सान्त, ससीम विषय जगत की सभी विषयों की कामना से मुक्त कर लिया है स्वयं को।''

अर्थात् ब्रह्मा तक की सारी उपलब्धियां जो आनन्द देती हैं वे सभी उस मनुष्य के आनन्द की तुलना में कम हैं, जिसने अपनी विषय भोगेच्छाओं पर विजय पा ली है-बार-बार जो यह कहा है कि क्षोत्रियस्य चाकामहतस्य-सुख की वृद्धि के प्रत्येक सोपान पर उसका यही आशय है।

जिस प्रकार किसी एक स्टेशन से रेडियो सम्बद्ध होता है तो उस रेडियो से वही संगीत निकलेगा जो उस रेडियो स्टेशन के ब्रॉडकास्टिंग कमरे से गाया गया है, उसी तरह स्वयं पूर्ण व्यक्ति परम तत्त्व के साथ एकाकार हो गया है जो अनन्त है, असीम है। उस स्थिति में उसका मन और बुद्धि किसी भी प्रकार की स्वार्थ प्रेरित, मिथ्या भावनाओं में रमण नहीं करेंगी। उसके मन में जो भी विचार, प्रत्यय उठेंगे वे समष्टि मन का ही reflection होंगे। ऐसे महात्मा के विचार बाह्य जगत् में आशीर्वाद स्वरूप भी लग सकते हैं अथवा पहले उलझन और संकट देने वाले प्रतीत होकर फिर बाद में आनन्द दे सकते हैं। किन्तु वह महात्मा अपने सभी विचारों का मात्र द्रष्टा, साक्षी रहता है, बिना किसी भी प्रकार प्रभावित हुए, दु:खी-सुखी हुए। वह पाप-पुण्य से पूरी तरह ऊपर उठ चुका है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा के जीवन का आचरण ही जब संगृहीत किया जाता है तो वही धर्म शास्त्र बन जाता है।

पहले ऋषि वेदों को सुनते थे, अब पढ़ते हैं। इस परम सुख की प्राप्ति हेतु ज्ञान ही समाधान है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही सुखरूप है, आनन्द रूप है। निषिद्ध कर्म न करना, विहित कर्म करना, सकाम विहित कर्म करना, निष्काम कर्म करना कर्त्तव्य भाव से- ये सब चित्त शुद्धि के साधन मात्र हैं क्योंकि शुद्ध चित्त में ही ज्ञान अवतरित हो सकता है। यदि अंधकार है या नेत्रों में मालिन्य है तो रज्जु सर्प दिखेगी, उस सर्प को हटाने के लिये अंधकार को दूर करना है, नेत्रों की ज्योति ठीक करना है अर्थात् चित्त निर्मल करना है तथा शास्त्र अध्ययन करना है। फिर इस सर्प को लाठी से पीटने की आवश्यकता नहीं रहेगी। आत्मा का स्वरूप ही सुख रूप है-अत: इस आनन्द को अनुभूत करने के लिये पांचों कोशों को हटाना होगा।

यह आनन्द कोशातीत आनन्द है। शेष सभी आनन्द, आनन्दमय कोश पर निर्भर करते हैं, इन कोशों के अनावरण से आत्मा का अपना स्वरूप जो किसी विषय, वस्तु या परिस्थिति की अपेक्षा नहीं

रखता वह तो आनन्द स्वरूप है, यह प्राप्तस्य प्राप्ति है, वह स्वयं प्रभावान् से चमकता है। अप्राप्तस्य प्राप्ति नहीं। अप्राप्तस्य प्राप्ति के लिये कर्म चाहिये होता है। यह अनन्त सुख है, सीमित या सापेक्ष सुख नहीं। जगत् के सभी जीवों का आनन्द, उस परमानन्द का छोटा-सा कण मात्र है। अत: जब तक हम अपनी कामनाओं से आहत रहेंगे, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणों में बैठकर श्रवण-मनन नहीं करेंगे-परमानन्द की यह अवधारणा हमें दिवास्वप्न सी ही दिखाई देती रहेगी।